शिक्षाक्रम की सैद्धांतिक पृष्ठभूमि – 2

❑ रोहित धनकर

पाठ्यक्रम पर चिंतन और संवाद शृंखला में हमने पाया कि शिक्षा दर्शन के ठोस परिप्रेक्ष्य और सैद्धांतिक पृष्ठभूमि के बिना सुसंगत और सार्थक पाठ्यक्रम की कल्पना मुश्किल है । 'शिक्षा-विमर्श' के पिछले अंक में राष्ट्रीय शैक्षणिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद द्वारा राष्ट्रीय बहस के लिए जारी 'विद्यालयी शिक्षा के लिए पाठ्यक्रम दस्तावेज', पर रोहित धनकर का विश्लेषण आलेख छपा था । पाठ्यक्रम चिन्तन के क्रम में इस बार उनका वैकल्पिक विचार प्रस्तुत है । उन्होंने पाठ्यक्रम को शिक्षाक्रम कहा है । उनके विस्तृत आलेख का पहला भाग हम गतांक में प्रकाशित कर चुके हैं । आलेख का उत्तरार्द्ध यहां प्रस्तुत है ।

समझ के विभिन्न स्वरूप

1. गणित

जगत के बारे में समझ बनाने में मानव को आकार परक संबंधों को समझना होता है । विभिन्न प्रकार के अमूर्त (केवल विचारों के) पैटर्न बनाने होते हैं । परिमाणात्मक समझ बनानी पड़ती है तथा अमूर्त तार्किक संरचनायें बनानी पड़ती हैं । मानवीय समझ का वह स्वरूप जो यह सब करने के प्रयास में विकसित होता है तथा मानव को यह सब करने में उत्तरोत्तर अधिकाधिक समर्थ बनाता है । मोटे तौर पर गणित कहा जा सकता है । यहां गणित को औपचारिक रूप से परिभाषित करने का प्रयत्न नहीं है बल्कि उसके बारे में विवरण तथा उदाहरणों के माध्यम से यथेष्ट स्पष्ट विचार बनाने का प्रयत्न है ।

गणितीय अवधारणायें के अमूर्त एवं स्पष्ट होने का कारण बड़ा सीधा सादा सा है । उन्हें हम मनचाहे तरीके से परिभाषित कर सकते हैं । शर्त बस यह होती है कि गणित के क्षेत्र में काम करने वाले लोग उसे स्वीकार कर लें । गणितीय अवधारणाओं का एक दूसरों से संबंध पूर्णतया तार्किक व इसीलिए सुस्पष्ट होता है । अत: गणित में अवधारणाओं की क्रमबद्ध श्रेणियां बनती चली जाती हैं । समझ के अन्य सभी स्वरूपों की भांति गणित में उनका विशेष अर्थ हो जाता है । जैसे सरल रेखा । गणित में सरल रेखा एक ऐसी अवधारणा है जो एकदम सीधी, दोनों तरफ अनन्त तक बढ़ाई जा सकने वाली होती है । जिसकी लम्बाई तो होती है पर मोटाई और चौड़ाई नहीं होती । सामान्य जीवन व भाषा की रेखा में ये सब गुण नहीं होते । हालांकि गणितीय रेखा सामान्य रेखा में ही कुछ गुणों को शून्य तक कम करके तथा कुछ को अनन्त तक बढ़ाकर बनाई गई है । इसी प्रकार सामान्य बोलचाल में प्रयुक्त शब्द *फील्ड* गणित में एक विशेष अर्थ ग्रहण कर लेता है ।

किसी गणितीय वक्तव्य के सत्य या असत्य होने का निर्णय करना हो तो गणित में किसी प्रकार के अवलोकन, प्रयोग आदि की आवश्यकता नहीं होती । गणितीय अवधारणाओं, कुछ स्वयंसिद्ध मान्यताओं तथा निगमन के स्वीकृत नियमों के आधार पर तार्किक रूप से सत्य या असत्य होना सिद्ध किया जाता है । इस प्रक्रिया में स्वीकृत वक्तव्य से तर्क के आधार पर तार्किक रूप से सिद्ध किये कथनों का ढांचा बनता चला जाता है । जो कथन एक बार स्वयं सिद्ध मान लिया गया या सिद्ध हो गया इसका उपयोग नये कथनों को गलत या सही सिद्ध करने के लिए करते हुए । इस तरह की प्रक्रिया में आंतरिक सुसंगति ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानदण्ड बन जाता है।

पर इस प्रकार बनाई गई अमूर्त अवधारणाओं की संरचनाओं का समझ के अन्य क्षेत्रों के विकास में बहुत समर्थ उपयोग होता है। यह उपयोग मूलत: यह देखने के लिए ही होता है कि यदि हम कुछ तथ्यों को स्वीकार कर लेते हैं तो हमें और क्या क्या स्वीकारने को बाध्य होना पड़ेगा । या बिना असंगति के भय के हम और क्या-क्या स्वीकार कर सकते हैं । विशुद्ध गणितीय निष्कर्षों को इस जीवन के अन्य क्षेत्रों में काम में लेने के लिए हमें बहुत सी मान्यताओं को रूढ़ तरीके से स्वीकार्य करना पड़ता है । यह स्वीकृति रूढ़ तो होती है पर साथ ही एक तरह से सार्वभौम भी होती है । जैसे मापने या नापने के लिए व्यावहारिक इकाइयों को स्वीकार करना । चीजों को गिनने के लिए उनको कम से कम गणन काल के लिए स्थाई व पृथक-पृथक अस्तित्वमान मानना आदि ।

वास्तव में जीवन के अन्य क्षेत्रों में गणितीय समझ के उपयोग के लिए यह आवश्यक है कि परिस्थिति विशेष को हम गणितीय मॉडल के रूप में (प्रतीकों के माध्यम से)निरूपित करें । फिर उस गणितीय मॉडल से शुद्ध तार्किक आधारों पर निष्कर्ष निकालें । इस

प्रकार प्राप्त निष्कर्षों की दुबारा परिस्थिति विशेष के रूप में व्याख्या करें । उदाहरण के लिए मान लीजिए हम गेहूं के एक ढेर मूल्य मुद्रा में गणना करना चाहते हैं तो पहले एक सुविधाजनक इकाई के माध्यम से गेहूं के ढेर को संख्या में बदल देते हैं । दूसरी तरफ मुद्रा की भी कोई इकाई निर्धारित करते हैं । अब मुद्रा की इकाई व गेहूं के माप की इकाई में कोई संबंध स्थापित करते हैं । यही भाव तय करना है। इस संबंध के आधार पर मात्र संख्याओं पर संक्रियायें करते हुए ढेर को निरूपित करने वाली संख्याओं को मुद्रा को निरूपित करने वाली संख्याओं में बदलते हैं और कहते हैं कि इस गेहूं के ढेर के तुल्य मुद्रा की इतनी इकाइयां होंगी । इस सारी प्रक्रिया की अधिकारिकता दो बातों पर निर्भर करती हैं । एक, शुद्ध तार्किक आधारों पर की गई संक्रियाओं तथा दो, परिस्थित विशेष को गणितीय मॉडल में बदलने के लिए अपनाई गई मान्यताओं की उपयुक्तता।

ऊपर की गई बातों को हम एक साथ कुछ बिन्दुओं में समेटना चाहें तो कह सकते हैं कि गणितीय-समझ के विकास का अर्थ है :

1. अमूर्त अवधारणायें बनाना तथा उनको संचालित व अभिव्यक्त करने के लिए प्रतीक बनाना ।
2. विशुद्ध तार्किक संबंधों के पैटर्न्स देखना व तार्किक आधारों पर सुस्पष्ट निष्कर्ष निकालना ।
3. किसी कथन को सत्य असत्य मानने के लिए स्पष्ट व निश्चित तार्किक आधार की मांग करना ।
4. इन्द्रियानुभव-गम्य परिस्थितियों को उपयुक्त मान्यताओं के माध्यम से गणितीय परिस्थितियों में रूपान्तरित करना एवं उलटा।

इन चार में से पहली तीन बातें समझ के सभी स्वरूपों में कमोबेश काम आती हैं । पर इन का विकास मूलत: गणित में होता है तथा ये अपने शुद्ध रूप में भी गणित में ही पाई जाती है । वैसे हमें यह याद रखना चाहिये कि गणितीय क्षमतायें जीवन के सभी अनुभवों की व्याख्या में उपकरणों की तरह प्रयुक्त होती हैं । अत: समझ के गणितीय स्वरूप को-भाषा की तरह, जिस पर आगे विचार करेंगे - अन्य सभी स्वरूपों में एक हद तक व्याप्त मानना पड़ेगा ।

2. विज्ञान

हमने ऊपर यह समझने की कोशिश की कि गणित आकार परक पैटर्नस व संबंधों को शुद्ध तर्क के आधार पर देखने, समझने का प्रयत्न करती है । इसी प्रयत्न में एक ऐसे समर्थ अवधारणात्मक तंत्र का विकास होता है जो जगत के अन्य पहलुओं को समझने में सहायक सिद्ध होता है । इसी प्रकार विज्ञान जगत का तथ्यात्मक वर्णन करने का प्रयत्न करता है । घटनाओं की व्याख्या करने का प्रयत्न करता है । वैज्ञानिक व्याख्यायें कार्य-कारण संबंधों के सैद्धांतिक निरूपण के आधार पर अधिक होती हैं । विज्ञान की अपनी खास बात यह है कि वह सिद्धांतों आदि को अवलोकनों पर आधारित रखता है ।

विज्ञान की भी अपनी विशिष्ट अवधारणायें होती हैं । हम कह सकते हैं कि ऊर्जा, ध्वनि, भ्रमण परिपथ, उत्प्रेरण आदि उनमें शामिल हैं । यहां भी इन्हीं शब्दों के अन्य उपयोग भी हो सकते हैं। जैसे ध्वनि का सामान्य भाषा में आवाज के लिए उपयोग पर विज्ञान जिस अर्थ में ध्वनि का उपयोग करता है उसमें सुनाई देना आवश्यक नहीं है। ये अवधारणायें वस्तुओं की संरचना, उनके गुणों आदि से संबंधित होती हैं। या फिर उनकी संरचना, गुणों आदि से संबंधित अवधारणाओं से और सामान्यीकरण व अमूर्तिकरण की प्रक्रिया में बनती है ।

विज्ञान की सत्यापन विधियां भी अपनी विशिष्ट होती हैं । विज्ञान में सत्यापन की अंतिम कसौटी इन्द्रियानुभव (अवलोकन) होता है । बहुत संक्षेप में कह सकते हैं कि विज्ञान में पहला चरण जिज्ञासा होती है । जिसमें जगत के किन्हीं पहलुओं के बारे में ''कैसे होता है ?'' ''किन कारणों से होता है ?'' ''कैसा है ?'' आदि सवाल उठते हैं । इन सवालों के उत्तर के रूप में परिकल्पनायें बनाई जाती हैं । फिर किसी परिकल्पना को मानने के परिणामों का तर्क के आधार पर अनुमान लगाया जाता है। फिर प्रयोगों द्वारा यह देखा जाता है कि वे परिणाम सचमुच निकलते हैं या नहीं ? यदि अनुमानित परिणाम नहीं निकलते हैं, अवलोकनों की विश्वसनीयता के प्रति हम आश्वस्त हैं तथा तर्क के आधार पर हमारी परिकल्पना के ये आवश्यक परिणाम हैं तो परिकल्पना में कहीं गलती है । अत: दूसरी परिकल्पना बनानी पड़ती है या पुरानी में आवश्यक सुधार करने पड़ते हैं । और यही प्रकिया नई परिकल्पना के परिणामों का अनुमान लगाने में होती है। पर सत्यासत्यता का निर्धारण अंतत: इन्द्रियानुभव के आधार पर ही होता है ।

यहां हमें चार बातों को विशेष रूप से ध्यान में रखने की आवश्यकता है। एक, विज्ञान में यह आवश्यक नहीं है कि परिकल्पना का प्रतिपादक, उसके आधार पर तार्किक निष्कर्ष निकालने वाला तथा अवलोकन करने वाला एक ही व्यक्ति हो । यह भी आवश्यक नहीं है कि वे एक स्थान पर एक ही समय में काम कर रहे हों । ये

अलग अलग व्यक्ति हो सकते हैं जो विश्व में अलग अलग स्थानों पर कार्यरत थे। दूसरी बात, किसी परिकल्पना के वैज्ञानिक परिकल्पना होने के लिए आवश्यक है कि तर्क के आधार पर उसके इन्द्रियानुभव-गम्य परिणाम आवश्यक रूप से निकलते हों। जिसके कोई तार्किक परिणाम हों ही नही (वैसे वह किस काम की होगी?) या वे इन्द्रियानुभव-गम्य न हो, वह परिकल्पना वैज्ञानिक परिकल्पना नहीं होती। उसकी सत्यता असत्यता की जांच नहीं हो सकती। उदाहरण के लिए ''यज्ञ से मानव कल्याण होता है'' वैज्ञानिक परिकल्पना नहीं है। मान लीजिये यज्ञ का अर्थ है किसी खास विधि-विधान के साथ किसी खास सामग्री का अग्नि हवन। (हालांकि यज्ञ के समर्थक इस शब्द के और भी अर्थ लेते हैं। पर ये अर्थ उपरोक्त वक्तव्य को एक पुनरुक्ति मात्र बना देंगे।) वे विधि-विधान या तो ऐसे हों जो मानव के लिए असंभव हों या उनमें ऐसी शर्तें हों जिसका पूरा होना या न होना अवलोकन का विषय न हो। जैसे चित्त की शुद्धता, तो किसी प्रकार के परीक्षण द्वारा इसे सत्य या असत्य सिद्ध नहीं किया जा सकेगा। तीसरी बात यह है कि परिकल्पना के तार्किक परिणामों के अनुभव सिद्ध न होने से परिकल्पना असत्य सिद्ध हो जाती है, पर उसके अनुभव सिद्ध हो जाने से परिकल्पना अन्तिम रूप से सत्य सिद्ध नहीं होती। वे ही परिणाम किसी या किन्हीं और परिकल्पनाओं के भी हो सकते हैं तथा नये तथ्यों के ज्ञात होने पर उस परिकल्पना को बदलना भी पड़ सकता है। अत: विज्ञान के सिद्धांत व व्याख्याएं सदा संभाव्य सिद्धांत व व्याख्याएं होती हैं। वे हमेशा ही काम चलाऊ रहती हैं। चौथी बात, विज्ञान किसी परिकल्पना को गलत सिद्ध होने पर या यों कहें कुछ तथ्यों की व्याख्या में असमर्थ होते ही त्याग नहीं देता। जब तक कोई बेहतर परिकल्पना उपलब्ध ना हो, जो पुरानी परिकल्पना की तुलना में तथ्यों की अधिक स्पष्ट व्याख्या करती हो, पुरानी परिकल्पना से काम चलाया जाता है।

इस विवेचना से सहमत हों तो हम कह सकते हैं कि वैज्ञानिक समझ के विकास का मतलब है :

1. अपने अनुभवों व आसपास होने वाली घटनाओं के प्रति सजग रहना व उनकी व्याख्या के प्रति आग्रही रहना।
2. इन्द्रियानुभवों को अवधारणों में बांधना व अवलोकनों को व्यवस्थित, वर्गीकृत आदि कर पाना।
3. अवलोकनों की व्याख्या के लिए परिकल्पनायें बना पाना।
4. परिकल्पनाओं के आधार पर सुनिश्चित तार्किक निष्कर्ष निकाल पाना।
5. इन निष्कर्षों की जांच के लिए नियंत्रित प्रयोगों की कल्पना कर पाना।
6. धैर्य, लगन एवं दक्षता से प्रयोगों को कर पाना व आवश्यक अवलोकन कर पाना।
7. अपनी मान्यताओं व परिकल्पनाओं के असत्य सिद्ध होने पर निराश या दुराग्रही न होना।

ये क्षमतायें/प्रवृत्तियां समझ के सभी स्वरूपों में कमोबेश आधी-अधूरी पाई जा सकती है। पर विज्ञान का ये आधार है तथा विज्ञान में ही इन का अधिकतम विकास होता है।

3. इतिहास

इतिहास मानवीय कर्मों और क्रियाकलापों का लेखा-जोखा होता है। मानव के कर्मों व क्रियाकलापों के निर्देशन व चुनाव पर उसकी परिस्थितियों के प्रभावों का अध्ययन होता है। यह लेखा-जोखा उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर अतीत की एक काल्पनिक पुनर्रचना होती है। इसमें साक्ष्यों की व्याख्या, मानवीय अभिप्रेरणों व प्रयोजनों की समझ आदि का महत्वपूर्ण स्थान होता है। इतिहास में सामान्य अवधारणाओं से भी बहुत कुछ काम चलता रहता है फिर भी मध्यकाल, भक्ति आंदोलन आदि प्रकार की अवधारणाओं को विशिष्ट ऐतिहासिक अवधारणाओं के रूप में देखा जा सकता है।

इतिहास की सत्यापन विधियां एवं उनके आधार इतने स्पष्ट नहीं होते हें जितने गणित या विज्ञान में होते हैं। इतिहास के तथ्य उतने असंदिग्ध नहीं होते जितने विज्ञान के तथ्य होते हैं। यहां तक कहा जा सकता है कि इतिहास में क्या तथ्य है और क्या नहीं यह सीधे अवलोकन का विषय न होकर पहले स्थापित करना पड़ता है। मानवीय प्रयोजनों व अभिप्रेरणों के बारे में सदा कुछ अस्पष्टता बनी रहती है। साथ ही उनकी समझ पर इतिहास की अपनी दृष्टि का रंग चढ़े बिना नहीं रहता। इतिहास में खोज, व्याख्या और सृजन एक साथ होता है। अत: इसमें सृजन वाले हिस्से में कल्पना का बहुत महत्व होता है। इन सब कारणों से इतिहास में सत्यासत्य के निर्णय के तरीके बहुत जटिल तथा कुछ हद तक अस्पष्ट रहते हैं। फिर भी सब कुछ अस्पष्ट व मनमाना नहीं होता है। यदि सब चीजों को विधिबद्ध करने, स्पष्टता, तार्किकता तथा ज्ञाता के मन से स्वतंत्र होने पर उतना जोर न हो जितना गणित व विज्ञान में होता है तो इसे आराम से समझा जा सकता है कि सत्यासत्य निर्धारण के तरीके कैसे हैं। तथा सब कुछ मनमाना क्यों नहीं है? तार्किकता, विधिबद्धता, समष्ठिनिष्ठता (ऑबजेक्टिविटी) आदि के समझ के

विभिन्न स्वरूपों में विभिन्न मानदण्ड होते हैं । इतिहास में सत्यापन विधि न तो पूर्णतया तर्क पर निर्भर होती है, न ही तर्क व प्रयोग के सांझे आधारों पर । बल्कि तथ्यों की खोज, स्थापना, भूतकाल के साक्ष्याधारित वर्णन की रचना, सामान्यीकृत नियमों व पैटर्नों की रचना, आदि सब कुछ एक साथ चलता है । ये सब एक दूसरे को संतुलित तथा एक दूसरे की जांच करते रहते हैं । विभिन्न स्रोतों से प्राप्त साक्ष्य एक दूसरे की व्याख्या, चुनाव व महत्व निर्धारण में मदद करते हैं । विभिन्न इतिहासकार एक दूसरे की भूल सुधार का प्रयत्न करते रहते हैं । इस प्रकार इतिहास की 'वस्तुनिष्ठता' - वह जितनी और जैसी है - संबद्ध समुदाय के बीच चलने वाली बहस और संवाद पर आधारित होती हैं। मोटे तौर पर हम कह सकते हैं कि ऐतिहासिक समझ के विकास का अर्थ है :

1. मानव के चुनावों, क्रियाकलापों, व कर्मों में कालक्रम और पैटर्न देखना ।
2. इन पर परिस्थितियों के प्रभाव व उनके पीछे मानवीय प्रयोजनों को समझना ।
3. उपयुक्त साक्ष्यों का तुलनात्मक अध्ययन कर पाना व उनसे भूत की कल्पना कर पाना ।
4. अपनी व्याख्याओं की अन्य लोगों की व्याख्याओं के साथ तुलना कर पाना, जांच कर पाना आदि ।

4. सौंदर्य-बोध

यहां पहले ''सौंदर्य-बोध'' शीर्षक का आशय स्पष्ट कर देना आवश्यक लगता है। मैं इसमें सौदर्यानुभूति, सौंदर्यशास्त्र एवं कला तीनों को ही ले रहा हूं । सौंदर्यानुभूति से मेरा आशय सुन्दर असुन्दर से प्रभावित होना है । किसी वस्तु से हम दर्जनों कारणों से प्रभावित हो सकते हैं । उसके द्वारा मिलने वाले शारीरिक सुख से, जैसे जाड़े में धूप । उसकी पौष्टिकता से जैसे गाजर का हलुवा । उसके नैतिक पक्ष से जैसे राजनेता की झूठी बयानबाजी आदि, आदि । सौंदर्यानुभूति इन सबसे अलग व निरपेक्ष रूप से प्रभावित होना है, जैसे किसी सुन्दर प्राकृतिक दृश्य को देख कर या कोयल का गाना सुनकर । सौंदर्यशास्त्र का आशय उस शास्त्र से है, जो सुन्दरता-असुन्दरता की अवधारणाओं को स्पष्ट करने का प्रयत्न करता है तथा क्या सुन्दर है और क्यों सुन्दर माना जाता है, की विवेचना करता है ।

कलाकृति मानव द्वारा निर्मित ऐसी वस्तु या परिस्थिति है जो हमें सौंदर्यानुभूति प्रदान करती है तथा मानव की वह क्षमता जो कलाकृति के सृजन की सामर्थ्य देती है, उसे कला कह सकते हैं। मानवीय समझ का वह स्वरूप जो इन सब को समाहित करता है उसी को यहां सौंदर्य-बोध कहा गया है ।

सौंदर्य-बोध मानवीय समझ का एक विशिष्ट स्वरूप है । इसकी विशिष्ट अवधारणायें होती हैं । जैसे लालित्य,सौंदर्य, राग, रस, काव्य, छंद, आदि-आदि । ये अवधारणायें गणित की अवधारणाओं की तरह अमूर्त तो हैं पर उनकी तरह सुस्पष्ट तरीके से परिभाषित नहीं की जा सकतीं। जैसे गणित में रेखा का क्या अर्थ है यह सब गणितज्ञों को एकदम स्पष्ट होता है । पर लालित्य के बारे में सभी कलाकार या सौंदर्यशास्त्री कभी एकमत नहीं होंगे । इनमें गणित की अवधारणाओं की तरह अन्तर्निहित तार्किक संबंध भी नहीं होते । इसी तरह सौंदर्यशास्त्र की अवधारणाएं विज्ञान की अवधारणाओं से भी भिन्न है तथा इतिहास की अवधारणाओं से भी। इनमें से बहुत सी अवधारणायें सामान्य उपयोग की अवधारणायें लग सकती हैं पर कला के क्षेत्र में उनके भिन्न अर्थ होते हैं । जैसे कला में रस नींबू या संतरे के रस से बहुत भिन्न है ।

कला के क्षेत्र में सवाल अच्छे-बुरे का, परिष्कृत-अपरिष्कृत का, सुन्दर-असुन्दर का उठता है । सत्य-असत्य का नहीं । कोई पेंटिंग, नृत्य या कविता अच्छी-बुरी हो सकती है, सुन्दर-असुन्दर हो सकती है । पर इन्हें सत्य या असत्य कहने का कोई अर्थ नहीं होता । वह परिपक्व-अपरिपक्व, परिष्कृत-अपरिष्कृत आदि हो सकती है ।

यह तय करना कि क्या सुन्दर है और क्या असुन्दर या कौन सी कलाकृति अच्छी है और कौन सी बुरी गणित के सिद्धांतों को सिद्ध करने जैसा नहीं है । इसके लिए किसी भी प्रकार की तार्किक उपपत्ति देना असंभव है । इसी प्रकार यह विज्ञान की तरह के प्रयोग अन्वेषण या अवलोकन से भी तय नहीं किया जा सकता । वास्तव में यहां सिद्ध करने जैसा कुछ होता ही नही है। यहां बात कलाकृति आदि से भावात्मक रूप से प्रभावित होने की है । अच्छी लगने या न लगने की है । फिर भी कला में अच्छे-बुरे के मानदण्ड होते हैं। पर ये मानदण्ड प्राकृतिक या सामाजिक अध्ययन के आधार पर निरूपित करना भी संभव नहीं है ।

सुन्दर-असुन्दर तथा कला के अच्छे-बुरे के मापदण्ड बनाना मुश्किल होने के बावजूद ऐसे निर्णय होते हैं । कलाकारों, कला समीक्षकों एवं सौंदर्यशास्त्र के ज्ञाताओं की दुनिया में भी होते हैं तथा सामान्य जन के रोजमर्रा के जीवन में भी । कम से कम पहले वर्ग में तो ये पूर्णतया मनमाने भी नहीं होते । कलाविज्ञ अपने अवधारणात्मक ढांचे बनाते हैं और उन ढांचों में इन माापदण्डों का विकास करने का प्रयत्न करते हैं । सौंदर्य-बोध के विकास का अर्थ है, उन अवधारणात्मक ढांचों को समझ पाना एवं अपने लिए कोई ढांचे बना पाना । सामान्य जन के रोजमर्रा के जीवन में उसके निर्णय

पर सौंदर्य-बोध का निर्णायक प्रभाव पड़ता है। फैशन की सारी दुनिया और विज्ञापन का पूरा बाजार इसी पर निर्भर करता है।अत: कमोबेश स्पष्ट-सौंदर्य बोध के बिना व्यक्ति की कल्पनाशक्ति का अपहरण करके उसके आर्थिक शोषण की संभावनायें बहुत बढ़ जाती हैं। साथ ही अपने आस-पास की परिस्थितियों को अधिक सुरूचिपूर्ण बनाने में तो सौंदर्य-बोध आवश्यक है ही ।

सौंदर्य-बोध के विकास के प्रयत्नों में हमें शायद निम्न चीजों पर ध्यान देना होगा :

1. सौंदर्य-संवेदन ।
2. यह समझना कि सौंदर्य एवं कला के मापदण्ड भिन्न-भिन्न समाजों में भिन्न-भिन्न हो सकते हैं । एक ही समाज के लोगों में भी बहुत भिन्न हो सकते हैं । फिर भी मापदण्ड बन भी सकते हैं तथा उनको संप्रेषित भी किया जा सकता है ।
3. हम जिन चीजों को सुन्दर समझते हैं उनके बारे में विचार करना कि वे हमें क्यों सुन्दर लगती हैं ।
4. सौंदर्य एवं सत्य तथा सौंदर्य एवं नैतिक के आपसी संबंधों को समझना ।

5. नैतिक समझ

विज्ञान, गणित एवं इतिहास संबंधी समझ हमारी परिस्थिति को समझने में सहायक होती है। परिस्थिति को समझने से अर्थ है उसका वर्णन (वह कैसी है ?) तथा उसकी व्याख्या (जैसी है, वैसी क्यों है ?) कर पाना । साथ ही यह समझ हमारे कर्मों के परिणाम का पूर्वानुमान करने में भी सहायक होती है । कर्म करने की पटुता एवं यह समझ मिलकर हमें प्रभावी कर्म कर पाने की सामर्थ्य प्रदान करती है । जैसा कि पहले कहा जा चुका है प्रभावी कर्म से अर्थ है इच्छित परिणाम देने वाला कर्म ।

कर्म की इस सामर्थ्य का उपयोग हम जीवित रहने के लिए तथा जीवन में संतोषप्रद परिस्थितियां बनाने के लिए करते हैं । किसी परिस्थिति के संतोषप्रद या असंतोषप्रद होने के कारण एक तो सीधे शारीरिक सुख एवं मूल आवश्यकताओं की पूर्ति से संबंधित होते हैं । दूसरे, हमारे सौंदर्य-बोध से संबंधित होते हैं। दोनों मिलकर हमें सुखमय एवं सुन्दर परिस्थितियां बनाने की प्रेरणा देते हैं। पर जो परिस्थिति हमारे लिए सुखमय है, किसी दूसरे के लिए कष्टकर हो सकती है । जो परिस्थिति हमारे लिए सुन्दर परिस्थिति है, वही या तो दूसरों की परिस्थिति को असुन्दर बना सकती है या फिर दूसरों को असुन्दर लग सकती है । अत: हमारे कर्म की सामर्थ्य के नियंत्रित एवं सुविचारित प्रयोग की आवश्यकता होती है । उसे दिशा देनी होती है । यह नियंत्रण एवं निर्देशन कुछ स्वीकृत मूल्यों के द्वारा होता है । इन मूल्यों की अवधारणाओं को समझना, उनके आपसी संबधों को समझना, हमारे कर्मों पर उनको स्वीकार करने के प्रभावों को समझना एवं उनको स्वीकार या अस्वीकार करना, यह नैतिक समझ का क्षेत्र होता है । नैतिक समझ के विकास से संतोषप्रद स्थिति की परिभाषा ही बदल जाती है । किसी भी प्रकार के नैतिक बोध से रहित मनुष्य - ऐसा प्राणी वास्तव में होता नहीं है - मात्र स्वयं को सुखमय एवं सुन्दर लगने वाली परिस्थिति को पूर्णतया संतोषजनक समझ सकता है । चाहे इसको बनाये रखने के लिए दूसरों को कितना भी कष्ट देना पड़े । उसके लिए एक-मात्र मूल्य 'आत्मसुख' हो सकता है । पर नैतिक-बोध होने पर इस परिस्थिति में उसे संतोष नहीं मिलेगा । अत: यहां संतोषप्रद परिस्थिति की परिभाषा में एक और आयाम जुड़ जाता है, उस में गुणात्मक परिवर्तन हो जाता है । अब शारीरिक रूप से कष्टकर परिस्थिति भी नैतिक कारणों से संतोषप्रद लग सकती है । नैतिक-बोध के विकास से कर्म के सामर्थ्य को दिशा देने वाले तीन कारक हो जाते हैं : 1. शारीरिक सुख, 2. सौंदर्य-बोध, एवं 3. नैतिक-बोध ।

हमारे चुनाव - चीजों और कर्मों के संदर्भ में - इन तीनों ही कारकों से प्रभावित होते हैं । अत: इन तीनों में ही स्वीकृत सिद्धांतों को मूल्य कहा जा सकता है । इसके साथ ही कर्म की सामर्थ्य भी अपने आप में मूल्य है । सामर्थ्य पटुता पर भी निर्भर होती है । अत: पटुता भी अपने आप में मूल्य है । वैसे तो जिन मूल्यों को हम चरितार्थ करने योग्य मानते हैं, उन सभी की विवेचना करना नीतिशास्त्र का काम है फिर भी इस का केन्द्रीय भाग वे मूल्य हैं जो दूसरों के साथ हमारे व्यवहार से संबंधित हैं । यदि पूरी सृष्टि में केवल एक ही प्राणी होता या फिर हमारे कर्म एक दूसरे को प्रभावित करने में असमर्थ होते तो नैतिकता के प्रश्न उठ ही नहीं सकते थे । यदि कर्मफल के सिद्धांत का अर्थ यह है कि एक प्राणी को केवल और केवल उसी के कर्मों का फल मिलता है तो कर्मफल के सिद्धांत से नियंत्रित होने वाले विश्व में नैतिकता के प्रश्न नहीं उठ सकते । इसी प्रकार यदि ईश्वर सर्वशक्तिमान है एवं उसकी इच्छा के बिना पत्ता भी नहीं हिल सकता है तो भी विश्व में नैतिकता के प्रश्न नहीं उठ सकते । पर यह विषयान्तर हो रहा है । यहां मैं केवल यही कह रहा हूं कि नैतिकता के प्रश्न अपनी पूरी तेजस्विता के साथ वहीं उठते हैं जहां एक स्वतंत्र कर्त्ता के कर्मों का प्रभाव दूसरे व्यक्तियों या प्राणियों पर पड़ता हो ।

दूसरे लोगों से हम विभिन्न प्रकार के संबंधों से जुड़े होते हैं। माता-पुत्री, पति-पत्नी, नौकर-मालिक, अफसर-मातहत आदि आदि । इन संबंधों के साथ जुड़े हमारे कर्तव्य, दायित्व और

अधिकार होते हैं । समाज के घटकों के रूप में भी हमारे कर्तव्य, दायित्व एवं अधिकार होते हैं । समाज में व्यवहार की कसौटी के लिए न्याय-अन्याय, अच्छे-बुरे संबंधी मानदण्ड, यह सभी नैतिक समझ का क्षेत्र हैं । अच्छा, बुरा, न्याय, कर्तव्य, अधिकार आदि नीतिशास्त्र की विशिष्ट अवधारणायें हैं।

नीतिशास्त्र में मुख्य प्रश्न सत्य-असत्य के नहीं हो कर अच्छे-बुरे के, उचित-अनुचित के, स्वीकार्य-अस्वीकार्य के होते हैं । ''रघु बकरियां चुराता है ।'' इस वक्तव्य की जांच का सवाल कि यह बात सही है या गलत नीति शास्त्र का विषय नहीं है । रघु अच्छा काम कर रहा है या बुरा ? यह सवाल नीतिशास्त्र का है । पर चोरी करना अच्छी बात है या बुरी यह तय करने में विज्ञान का तरीका काम में नहीं ले सकते । कितने भी परीक्षण, प्रयोग, अवलोकन कर लें, चोरी करना अच्छा है या बुरा इस बारे में कुछ भी पता नहीं चलेगा । अवलोकनों से यह तो पता चलता है कि जिस व्यक्ति की चोरी होती है, उसे दुख होता है, परेशानी होती है, क्रोध आता है आदि । यदि किसी को दुख देना निन्दनीय बात मानी जाती है तो चोरी करना निन्दनीय काम सिद्ध हो जाता है। पर दुख देना निन्दनीय काम माना जाये या स्तुत्य ? यह सवाल फिर विज्ञान के क्षेत्र से निकल गया है । किसी को दुख देना निन्दनीय क्यों माना जाये ? इस सवाल का उत्तर देने के लिए फिर हमें किसी मूल्य का हवाला देना पड़ेगा और यह शृंखला तब तक चलती जायेगी जब तक कि अन्त में हम किसी ऐसे मूल्य पर न पहुंच जायें, जिसके स्वीकार्य होने का सवाल न उठाना चाहें या न उठ सकें । यहां मैं यही कहना चाहता हूं कि किसी कर्म के अच्छा या बुरा होने को वैज्ञानिक तरीके से सिद्ध नहीं किया जा सकता । स्पष्ट ही यह गणितीय तरीके से भी सिद्ध नहीं हो सकता । हालांकि तर्क का सशक्त उपयोग यहां होता है। पर एक तो मूल्यों का आपसी संबंध शुद्ध तार्किक नहीं होता तथा दूसरे मूल्य गणितीय अवधारणाओं की तरह नहीं होते । फिर भी कर्मों को अच्छा-बुरा, उचित-अनुचित तो कहा जाता है, माना जाता है । अत: यहां इन निर्णयों की कोई भिन्न प्रणाली होती है ।

पर नीतिशास्त्र केवल कर्मों को अच्छा-बुरा कहने से ही संबंध नहीं रखता । स्वयं अच्छे, बुरे आदि को परिभाषित करना - या परिभाषित करने का प्रयत्न करना - भी नीतिशास्त्र का ही काम है। यहां भी गणित, विज्ञान या इतिहास में प्रयुक्त सत्य-असत्य निर्धारण की प्रणालियां काम में नहीं आ सकतीं । अत: यह कहा जा सकता है कि नीतिशास्त्र की अपनी निर्णय की प्रणाली होती है जिस में तर्क, अवधारणाओं का विश्लेषण, संश्लेषण आदि प्रक्रियायें होती हैं ।

कोई व्यक्ति किन मूल्यों को स्वीकार या अस्वीकार करता है इस पर उस व्यक्ति की संवेदना का गहरा प्रभाव पड़ता है । कहा जा सकता है कि नैतिक मूल्यों का सवाल उठता ही संवेदना के कारण है । संवेदना सीधी इन्द्रिय स्तर पर भी हो सकती है। हम सौंदर्य के प्रति भी संवेदनशील या असंवेदनशील हो सकते हैं। यहां संवेदना से तात्पर्य इन दोनों ही प्रकार की संवेदना से नहीं है । नैतिकता का आधार बनने वाली संवेदना से तात्पर्य दूसरे की मानसिक/शारीरिक सुख/दुख की स्थिति के हमारे मानस पर पड़ने वाले सीधे प्रभाव से है । दूसरे की दाढ़ के नीचे कंकर आने की आवाज सुनकर हमें होने वाली अनुभूति या अपनों को दुखी देख कर मन पर स्वत: छाने वाली उदासी इस के उदाहरण हैं ।

संवेदना का आधार मिलने पर कुछ मूल्यों को स्वीकार किया जाना तो संभव है पर कर्म को दिशा देने के लिए इतने से काम नहीं चलता । मूल्यों की स्पष्ट अवधारणात्मक समझ की आवश्यकता होती है । उनको स्वीकार करने के तार्किक परिणाम को समझने की आवश्यकता होती है । हमारे कर्मों के परिणामों में पूर्वानुमान की आवश्यकता होती है । साथ ही स्वीकृत मूल्यों में टकराहट भी होती है । उदाहरण के लिए अहिंसा एक स्वीकृत मूल्य हो सकता है । साथ ही माता या पिता का अपने बच्चों की जीवन रक्षा भी स्वीकृत मूल्य हो सकता है । अकाल के समय भूख से दम तोड़ते बच्चे की जीवन रक्षा अधिक महत्वपूर्ण होगी या अहिंसा के तहत मुर्गी को न मारना ? मूल्यों की टकराहट के लिए हमें अकाल जैसी अति वाली स्थितियों की कल्पना करना आवश्यक नहीं है । रोजमर्रा के जीवन में हम दर्जनों बार पेशोपेश में पड़ते हैं ।

अत: नैतिक समझ के विकास का अर्थ होगा :

1. संवेदन (परानुभूति के प्रति संवेदना) का विकास ।
2. समझ के अन्य स्वरूपों का विकास जिससे हम अपने कर्मों के परिणामों का पूर्वानुमान लगा सकें ।
3. मूल्यों की अवधारणात्मक समझ एवं उनके आपसी संबंधों को समझना ।
4. किसी मूल्य को स्वीकार करने के तार्किक परिणामों की समझ ।
5. मूल्यों की सापेक्षता - देश/काल के संदर्भ में - समझना ।
6. मूल्यों के आपसी सापेक्ष महत्व को समझना एवं किस स्थिति में कौन-सा मूल्य निर्णायक होना चाहिये, संबंधी निर्णय ले पाना ।

यह कोई समग्र सूची नहीं हैं । इसको बढ़ाया जा सकता है। पर बढ़ाने पर भी भाव पक्ष और बौद्धिक पक्ष के तुलनात्मक महत्व पर कोई बड़ा प्रभाव नहीं पड़ेगा । और इस सूची को देखकर सरलता से कहा जा सकता है कि नैतिकता का विकास असंज्ञानात्मक प्रक्रिया नहीं है । यह विवेक और तर्क पर निर्भर करती है ।

6 दर्शन

अभी तक हमने मानवीय समझ के जिन स्वरूपों की चर्चा की है उनके बारे में यह कहा जा सकता है कि वे विश्व को विभिन्न पहलुओं से समझने का प्रयास करते हैं । इस बात को साफ तौर पर समझने के लिए एक उदाहरण के तौर पर ताजमहल को लेते हैं। गणित मुख्यत: ताजमहल के आकार-प्रकार एवं संरचनात्मक पहलुओं को समझने में मदद कर सकती है । ताजमहल की रेखाओं, कोणों, वक्रों और उसके आपसी रिश्तों को समझने में मदद कर सकती हैं । विज्ञान मूलत: उसके स्पष्ट वर्णन, जिस पदार्थ से ताजमहल बना है, उसके गुणधर्म, विभिन्न भागों एवं नींव पर पड़ने वाले दबावों, यह संरचना कितने दिन तक टिक सकती है ? आदि एवं इसी प्रकार के अन्य पहलुओं को समझने में मदद कर सकता है । मथुरा तेल शोधक कारखाने का ताजमहल पर प्रभाव भी विज्ञान के क्षेत्र में ही आयेगा । इन सब में गणित की मदद ले सकते हैं, जैसे ताजमहल के बडे गुम्बद द्वारा दीवारों पर डाले गये दबाब की गणना में । इतिहास ताजमहल कब, किसने बनाया और इसमें कब-कब कौन से परिवर्तन या मरम्मत आदि की गई, इस का अतीत क्या है ? आदि प्रश्नों को समझने में, हल करने में, मददगार साबित हो सकता है। सौंदर्यबोध इसकी सुन्दरता को समझने परखने, उससे भावविभोर होने, उस पर कविता लिखने, चित्र बनाने आदि में मददगार हो सकता है। नीतिशास्त्र की चिंता बादशाहों द्वारा अपनी प्रिय बेगमों की याद को अमर करने के लिए जनता के धन, जीवन एवं श्रम के व्यय के औचित्य-अनौचित्य निर्धारण में मदद कर सकता है। समझ के इन विभिन्न स्वरूपों का मुख्य बल इन दिशाओं में रहेगा तथा इन्हीं पक्षों को समझने में ये स्वरूप सर्वाधिक मददगार हो सकते हैं ।

दर्शन का एक काम इन सभी पक्षों को मिला कर ताजमहल को उस की समग्रता में देखना है । इन सभी पक्षों में आपसी संबंध देखना, उनकी विवेचना/विश्लेषण द्वारा समन्वय करना व एक समग्र संशलिष्ट दृष्टि का विकास करना, आदि सबकी क्षमता को समझ का दार्शनिक स्वरूप कहा जा सकता है ।

पर बात सिर्फ इतनी ही नहीं है । समझ के किसी भी स्वरूप के बारे में विचार करना जैसे गणित क्या है ? गणित का स्वभाव एवं स्वरूप क्या है ? आदि भी दर्शन के क्षेत्र में प्रवेश कराने वाले प्रश्न हैं ।

समझ के विभिन्न स्वरूपों का निरूपण, उनमें समानता या भेद देखना, उनमें प्रयुक्त सत्यापन के तरीकों की विवेचना, विश्लेषण करना भी दर्शन की परिधि में आता है ।

मानव जीवन को उसकी समग्रता में देखने-समझने के प्रयास में, संपूर्ण विश्व को मानव-चिंतन की परिधि में लाने, स्वयं चिंतन और ज्ञान की प्रक्रिया और उनके स्वभाव को जांचने-परखने, आदि के प्रयासों में समझ का जो स्वरूप विकसित होता है, उसे मोटे तौर पर हम दर्शन कह रहे हैं । दूसरे शब्दों में जगत में हमारे संपूर्ण अनुभवों की व्याख्या के लिए विभिन्न अवधारणात्मक ढांचों से बाहर निकलकर जब हम उन्हीं ढांचों को जांचने परखने लगते हैं, जगत के अस्तित्व एवं स्वभाव के बारे में प्रश्न उठाने लगते हैं, अपने आपको ही विश्लेषण एवं विवेचना का विषय बनाने का प्रयत्न करने लगते हैं, इन सब में सार्थकता एवं उद्देश्यों को ढूंढने लगते हैं , संपूर्ण विश्व, उसमें हम स्वयं, हमारे कर्म एवं हमारे विचारों का एक साथ दर्शन करने का एवं उनका मूल्यांकन करने का प्रयास करते हैं, तो हम दार्शनिक हो जाते हैं । इस प्रयत्न से अधिक सामान्यीकृत अवधारणाओं का विकास होता है, अधिक सामान्यीकृत्त सत्यापन विधियों का विकास होता है एवं अधिक सामान्य पैटर्न बनाने पड़ते हैं । समझ के प्रकार के इस स्वरूप को यहां समझ का दार्शनिक स्वरूप कह रहे हैं ।

दर्शन का काम हमारे समस्त चिंतन में स्पष्टता लाना एवं उसमें सामंजस्य बैठाना है । इसकी सत्यापन विधियां मूलत: चिंतन-परक एवं तार्किक होती हैं । ये सत्यापन विधियां समझ के अन्य स्वरूपों की सत्यापन विधियों को अपने आप में समाहित करती हैं; उनसे सामर्थ्य ग्रहण करती हैं और साथ ही उनकी प्रमाणिकता की जांच भी करती हैं ।

दार्शनिक समझ के विकास का अर्थ है :

1. अवधारणाओं की स्पष्टता व उनके आपसी संबंधों के प्रति आग्रहशील होना ।
2. चिंतन के हर क्षेत्र में मूल मान्यताओं को रेखांकित करने का सतत प्रयत्न ।
3. विश्लेषण एवं संश्लेषण की क्षमता का विकास ।
4. विश्व को उस की समग्रता में देखने की क्षमता का विकास ।
5. अपने भीतर एक ऐसे दृष्टा का विकास जो हम स्वयं,

हमारे कर्म और हमारे विचारों को पृथक-पृथक करके देख सके, उनके आपसी रिश्तों को देख सके एवं अन्यों तथा संपूर्ण विश्व के परिप्रेक्ष्य में रख सके ।

ऊपर समझ के विभिन्न स्वरूपों की चर्चा की गई है । यहां यह कह देना आवश्यक है कि ये स्वरूप एक दूसरे से अलग पहचाने जा सकते हैं । पर एक दूसरे से पूर्णतया स्वतंत्र एवं निरपेक्ष नहीं हैं। इनमें बहुत सी बातें एक साथ दो या तीन में या सभी में सामान्य हो सकती हैं। न ही इन का विकास अकेले अकेले संभव है । जगत के किसी भी हिस्से को, या हमारे किसी भी अनुभव को, व्याख्यायित करने के लिए भी सदा ही एक से अधिक स्वरूपों की मदद लेनी पड़ती है।अत: यह ध्यान रखना आवश्यक है कि इस वर्गीकरण का उद्देश्य मात्र उन बौद्धिक क्षमताओं को चिन्हित करना है जिन का विकास जगत को समझने व उसमें निर्णय लेने के लिए आवश्यक एवं पर्याप्त लगता है ।

साथ ही इनके विभाग (विज्ञान के विभाग प्राकृतिक एवं सामाजिक) तथा उप विभाग (प्राकृतिक विज्ञान में भौतिकी, रसायन, जीव विज्ञान आदि) संभव हैं । दूसरी तरफ जगत के विभिन्न हिस्सों या पहलुओं के अध्ययन के लिए समझ के एकाधिक स्वरूपों को मिलाकर अध्ययन क्षेत्र बना पाना भी संभव है । जैस नृतत्त्व शास्त्र जो प्राकृतिक विज्ञान, सामाजिक विज्ञान, इतिहास आदि का उपयोग करता है ।

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है । यहां समझ के स्वरूपों के वर्गीकरण में हर्स्ट की मदद ली गई है । हर्स्ट 'धर्म' को समझ का एक स्वतंत्र स्वरूप मानते हैं । पर यहां धर्म को समझ का स्वतंत्र स्वरूप नही माना गया है । अत: इस पर टिप्पणी आवश्यक लगती है । पर उससे भी पहले धर्म शब्द के उपयोग पर कुछ कहना जरूरी है।

भारतीय चिंतन में धर्म की अवधारणा बहुत विस्तृत है । कई बार लगता है कि धर्म शब्द वास्तव में कई भिन्न-भिन्न अवधारणाओं को इंगित करने के लिए काम में लिया जाता है । किसी शब्द कोष में देखें तो धर्म के अर्थ मिलेंगे : कर्तव्य, कानून, नियम, भलाई, नैतिकता, अधिकार, औचित्य, प्रकृति या स्वभाव, मूल गुण, आदि आदि। इन सब में कुछ भी सामान्य नहीं लगता । इसमें मजहब जैसा कुछ भी नहीं है । पर आजकल हिन्दी में सामान्यतया अंग्रेजी शब्द रिलिजन के पर्यायवाची के रूप में धर्म ही काम में लिया जाता है। मुझे लगता है कि यह प्रयोग गलत है । इसे चालू रख कर हम भारतीय चिंतन की एक केन्द्रीय अवधारणा को धुंधला रहे हैं। फिर भी मैं यहां रिलिजन के समानार्थी शब्द के रूप में धर्म शब्द का ही उपयोग कर रहा हूं । क्योंकि कोई और बेहतर शब्द मुझे मिल नहीं रहा है ।

धर्म ने मानव के जीवन व विकास को बहुत प्रभावित किया है । बहुत से लोग हैं जिनकी संवेदना, भावना, नैतिकता एवं चिंतन प्रणाली धर्म से निर्णायक रूप से प्रभावित होती है । ऐसा भी लगता है कि धर्म की अपनी विशिष्ट अवधारणायें हैं, जैसे आत्मा, परमात्मा, स्वर्ग, नर्क, देवदूत, पैगम्बर, पाप, पुण्य, आदि आदि । धर्म की अपनी विशिष्ट सत्यापन विधियां भी जान पड़ती हैं । इन सब को देखकर ऐसा लगता है कि धर्म मानवीय समझ का एक स्वतंत्र एवं विशिष्ट स्वरूप है ।

लेकिन इसमें समस्यायें भी हैं । उदाहरण के लिए हम ईश्वर की अवधारणा को ले सकते हैं । विभिन्न धर्मों में ईश्वर की अवधारणायें भिन्न-भिन्न है । यहूदी ईश्वर इतना आदरणीय एवं इन्सान के लिए इतना ही डरावना है कि उस का नाम लेना तक ठीक नहीं समझा जाता । वह जगत का एक मात्र कर्ता एवं नियंता है, इन्सान उसे न मानें तो नाराज होता है, न मानने वाले को दण्ड देता है । अकारण कबीलों को अपनी कृपा के लिए चुनता है और दूसरों को धमकाता है । हिन्दू लोगों में जहां तक लोक विश्वास का सवाल है आप उसे जैसा चाहें वैसा मान सकते हैं । गीता के ईश्वर को देखें तो वह निराकार होते हुए साकार हो सकता है। दुनिया की राजनीति में रूचि लेता है, सब कुछ का नियंता भी है और निर्लिप्त भी। गीता के ही कर्मफल के सिद्धांत को उस की तार्किक परिणिति तक ले जायें तो न ईश्वर से डरने की आवश्यकता है न उससे प्रेम करने की । वह लगभग अनावश्यक हो जाता है । एक भौतिकीय नियम मात्र बनककर रह जाता है । इस्लाम का ईश्वर आप से वादे करता है, लालच देता है, डराता धमकाता है और अकारण दोजख में भेजता है । बौद्ध आरंभ में तो बिना ईश्वर के ही काम चला लेते थे । पर पूरी तरह धर्म बनने के लिए उन्हें बुद्ध को लगभग ईश्वर बनाना पड़ा ।

अब इन विभिन्न स्वभाव एवं सामर्थ्यशाली ईश्वरों में वास्तविक ईश्वर कौनसा है ? धर्म इस प्रश्न का हल विवेक एवं तर्क के आधार पर करने को तैयार नहीं होते । जहां तक अवधारणाओं और सिद्धांतों में वैविध्य का सवाल उठता है वह विज्ञान में भी होता है। उदाहरण के लिए ब्रह्माण्ड की अवधारणा एवं उसके आरंभ का सिद्धांत । पर विज्ञान में एक सुसंगत सिद्धांत गढ़ने का प्रयत्न किया जाता है। किसी सिद्धांत की आलोचना, समालोचना तथा स्वीकार/अस्वीकार करने की स्वतंत्रता हर व्यक्ति के पास रहती है । जबकि ईश्वर के बारे में ऐसा नहीं है । उसे मानने का आग्रह किया जाता

है। उस आग्रह का आधार मात्र आस्था होती है । और आलोचना को धर्म विरुद्ध करार देकर दण्डनीय मान लिया जाता है। अर्थात बल तर्क-हीन आस्था पर रहता है ।

अधिक परिष्कृत एवं बौद्धिक स्तर पर ईश्वर की परिष्कृत अवधारणायें भी मिलती हैं तथा उसे तर्क के सहारे सिद्ध करने का प्रयत्न भी होता है। पर उसकी भी अपनी समस्यायें हैं । ईश्वर को चेतन, सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ और भला तो मानना ही पड़ता है । समस्या यह पैदा होती है कि जिस प्रकार के जगत में हम रहते हैं उसमें सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान एवं भला एक साथ नहीं हो सकता । यदि वह सर्वज्ञ है तो उसे संपूर्ण जगत का ज्ञान है। वह सर्व शक्तिमान है तो वह जो चाहे वह कर सकता है । जगत में तो बुराई भी है । पर ईश्वर तो भला है । अत: उसे बुराई को मिटाना चाहिये । पर ऐसा वह कर तो नहीं रहा । अत: वह या तो भला नहीं और इसलिए पूजनीय नहीं । या फिर वह सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ नहीं और इसलिए उस की पूजा अर्चना से कुछ लाभ नहीं । यदि उसे इस समस्या से निकालने का प्रयत्न करते हैं तो वह निरपेक्ष और निर्लिप्त बन जाता है । ऐसी स्थिति में उसे हमारी परवाह नहीं और इसलिए हमारे जीवन पर उसका किसी भी प्रकार का प्रभाव नहीं रहता । तो उसका होना न होना बराबर है ।

अधिकतर - लगभग सभी - धार्मिक मान्यताओं की विवेक के संदर्भ में तो वही स्थिति है जो ईश्वर की है । अत: विश्वास या अविश्वास मात्र आस्था के बल पर किया जाता है । क्योंकि आस्था का निर्णय तर्काधारित नहीं होता, किस धर्म को मानने पर कौन से सिद्धांतों में आस्था रखनी होगी, यह धर्मग्रंथों के आधार पर करना पड़ता है। पर धर्म-ग्रंथों के निहितार्थ को समझने के लिए भी तर्क और विवेचना की आवश्यकता होती है । तर्क और विवेचन एक बार स्वीकार्य और आरंभ हो जाने पर स्वयं धर्मग्रंथ पर लागू होने लगता है । अत: स्वयं धर्म ग्रन्थ के स्वीकार या अस्वीकार होने का खतरा हो जाता है। परिणामत: धर्मग्रथों को समझने के लिए भी तर्क एवं विवेचन का विरोध आवश्यक हो जाता है । अत: अधिकारिक व्याख्याकारों - धर्मगुरूओं - की व्याख्या को अविवेचित रूप से स्वीकार करने के अलावा कोई चारा नही बचता। परिणामत: सामान्यजन की समझ व भावनाओं पर धम्रग्रंथों एवं धर्मगुरूओं का नियंत्रण हो जाता है। पर यह प्रक्रिया तो समझ के परिष्कार और विकास की नहीं, उस पर नियंत्रण करने व उसे इच्छित स्वरूप देने की है। अत: हम धार्मिक भाव को मानवीय समझ का एक स्वरूप मानें तो यह ऐसे स्वरूप के रूप में उभरता है जो समझ के अन्य स्वरूपों को तभी विकसित होने देता है जब वे इससे पूर्ण संगति रखते हों । अन्यथा उनके विकास में अवरोध, बहुधा बल एवं हिंसा के द्वारा, खड़े करता है । यह समझ की आत्महत्या का प्रयत्न लगता है ।

पर अभी तक का विवेचन ठीक होते हुए भी एक पक्षीय लग सकता है। दूसरा पक्ष यह भी रखा जा सकता है कि धर्म जीवन के लिए उद्देश्य, नैतिकता के लिए आधार एवं कठिन परिस्थितियों से जूझने के लिए बल प्रदान करता है, कर सकता है । साथ ही बहुत से धर्मगुरू और लोग ऐसे हुए हैं, अब भी हैं, जो अपनी आस्था में दृढ़ रहते हुए भी विवेक एवं विवेचना से विमुख नहीं हुए तथा जिन्होंने दूसरों की आस्था एवं विवेक को अवरूद्ध करने में रूचि नहीं दिखाई। बल्कि क्षमता, मानवीय भाईचारा एवं सब के कल्याण के लिए कार्यरत रहे एवं हैं । इन बातों से इनकार नहीं किया जा सकता। पर यह सब तो संवेदना एवं समझ के विकास से भी संभव हो पाता है। इसमें धर्म का कितना हाथ है यह कह पाना कठिन है।

विश्व को समझने के लिए, उसे सार्थक बनाने के लिए हमें वैचारिक ढांचे बनाने पड़ते हैं । मानव के आरंभिक वैचारिक ढांचे जो जगत को कुछ हद तक बोधगम्य, सार्थक एवं व्यवस्थित कर पाने में सफल रहे, उनमें अज्ञात एवं बेतरतीब को बस में करने के लिए दैवी शक्ति का सहारा लिया गया। मानव की अनुभव बुद्धि एवं चिंतन क्षमता के विकास के साथ साथ ये ढांचे परिष्कृत होते चले गये । इस प्रक्रिया में मानव ऐसे वैचारिक ढांचे बनाने में भी सफल रहा है जिसमें दैवी शक्ति की आवश्यकता नहीं होती । बल्कि आज बिना दैवी शक्ति वाले ढांचे जगत की अधिक बेहतर व्याख्या कर पाते हैं । अत: अब धर्म एक प्रवृत्ति या भावना विशेष बन कर रह गया है। इसे समझने की आवश्यकता तो है पर समझ के एक स्वरूप की तरह नहीं बल्कि मानव मन की एक भावना की तरह । यह काम दर्शन, नीतिशास्त्र एवं विज्ञान की प्रणालियों द्वारा बखूबी किया जा सकता है । कहने का तात्पर्य यह कि धर्म के तुलनात्मक अध्ययन की आवश्यकता तो है । पर इसको समझ का स्वतंत्र स्वरूप मानना असंगत होगा।

यहां हमने समझ के स्वरूपों पर विचार किया है । यह कहा गया है कि संपूर्ण मानवीय समझ को इन छ: प्रकारों में बांट कर देखा जा सकता है । यदि हम ऐसा शिक्षाक्रम बनाना चाहते हैं जो शिक्षा के व्यापक उद्देश्यों को प्राप्त करने में सहायक होता हो तो हमें समझ के इन मूल स्वरूपों के विकास का प्रयत्न करना होगा । प्राथमिक स्तर पर यह काम कैसे किया जाये यह तय करने के लिए हमें उपरोक्त निष्कर्षों के प्रकाश में एक बार फिर विचार करना पड़ेगा। पर यह तो अधूरी बात है । शिक्षा के व्यापक उद्देश्यों में तो हमने कौशलों के विकास को भी आवश्यक माना है ।

3. कौशल

कौशल शब्द का उपयोग यहां कर्म की सामर्थ्य के रूप में किया गया है । सामान्यत: कौशल से दक्षता एवं कर्म में चतुराई या पारंगतता का भान होता है । यहां कर्म की सामर्थ्य मात्र को कौशल कह रहे हैं । निसंदेह पारंगतता का स्तर कौशलों के संदर्भ में महत्वपूर्ण है तथा यहां भी सामान्यत: कौशल प्राप्ति काम करने में संतोषजनक पारंगति को ही इंगित करेगी ।

मानवीय कर्म के संपूर्ण क्षेत्र को दो भागों में बांटा जा सकता हैं । एक, जगत के बारे में चिंतन, तथा दो, जगत में परिवर्तन । चिंतन कर्म के बारे में हम समझ का विश्लेषण करते हुए बात कर चुके हैं । वहां समझ का विकास और चिंतन के कर्म में कुशलता का विकास एक ही चीज हैं, अत: यहां हम मात्र जगत में परिवर्तन करने वाले कर्मों में कुशलता की बात करेंगे ।

पहले शायद कर्मो- जगत में सीधे तौर पर परिवर्तन करने वाले कर्मों - के दायरे को थोड़ा और ध्यान से देख लें तो ठीक रहेगा। यहां यह नहीं कहा जा रहा है कि चिंतन का कर्म जगत में परिवर्तन नहीं करता है । पर यह अवश्य है कि उस कर्म का प्रभाव तब तक मात्र एक व्यक्ति पर रहता है जब तक कि उस चिंतन की अभिव्यक्ति विचार या कर्म के रूप में दूसरों पर ना हो। सभी कर्म सोद्देश्य होते हैं । हम कर्म करते ही परिस्थिति में मनोवांछित परिवर्तन करने के लिए हैं । पर कर्म का उद्देश्य सदा कर्म की क्रिया से बाहर होना आवश्यक नहीं है । उद्देश्य क्रिया से बाहर हो भी सकता है और न भी हो । जैसे बच्चे का झूला झूलना कर्म तो है पर उस का उद्देश्य उस कर्म में ही निहित है । इसी प्रकार बड़े भी बहुत कुछ मात्र करने के आनन्द के लिए कर सकते हैं । उदाहरण के लिए वॉलीबाल खेलना। यहां मैं प्रतिस्पर्धा में स्वर्णपदक जीतने के लिए खेले जाने वाले वॉलीबॉल की बात नहीं कर रहा हूं। सामान्यत: खेलने के आनन्द के लिये खेले जाने वाले वॉलीबॉल की बात कर रहा हूं । इन कर्मों में यहां अधिकतर खेल ही होंगे - जिनका आनन्द ही उद्देश्य है । फिर भी इन को छोटे टुकड़ों में बांट कर देखा जा सकता है । जहां कर्म एवं उसके उद्देश्य भिन्न होंगे । जैसे वॉलीबॉल में बॉल को उछालना या दूसरी टीम के क्षेत्र में तेज गति से फेंकना । यहां उद्देश्य यह है कि बॉल दूसरी टीम के क्षेत्र में गिरे ।अत: एक दृष्टि से कर्मों को दो भागों में बांट सकते हैं : जिनका उद्देश्य कर्म की क्रिया में ही निहित है तथा वे जिनका उद्देश्य क्रिया से बाहर है, पर दोनों ही स्थितियों में उद्देश्य की प्राप्ति पारंगति पर निर्भर करती हैं। अत: कौशल विकास के संदर्भ में हमें इनमें फर्क करने की आवश्यकता नहीं है ।

जगत में परिवर्तनों को भी हम दो मुख्य श्रेणियों में बांट सकते हैं । एक, वे कर्म जिनका उद्देश्य दूसरों के चिंतन एवं कर्म को प्रभावित करना होता है तथा दूसरे वे जिनका उद्देश्य जगत की भौतिक परिस्थितियों में परिवर्तन करना होता है। पुस्तक या लेख लिखना मूलत: पहली श्रेणी में आयेगा । यह ठीक है कि लिखने में हम भौतिक परिस्थिति में भी परिवर्तन करते हैं, कागज पर चिन्ह बनाना भौतिक परिस्थिति में परिवर्तन करना है, पर उसका मुख्य उद्देश्य अपनी बात दूसरों तक पहुंचाना है । अर्थात उनसे एक विशेष प्रकार से विचार करने का आग्रह । शिक्षण, प्रशिक्षण, विचार-विमर्श आदि सभी इसी श्रेणी के कर्म हैं । दूसरे प्रकार के कर्म वे हैं जिनमें हम जगत की भौतिक परिस्थिति में परिवर्तन करना चाहते हैं । जैसे कुम्हार का मिट्टी से मटका बनाना, बढ़ई का लकड़ी से मेज बनाना, गेहूं से आटा बनाना, आदि ।

हमारे लगभग सभी कर्म छोटे टुकड़ों में बांटे जाते हैं और इस प्रकार एक कर्म नहीं बल्कि कर्मों की शृंखला के रूप में देखे जा सकते हैं । इन शृंखलाओं में उपरोक्त दोनों प्रकार के कर्म मिले जुले रूप में आते रहते हैं । पर मोटे तौर पर हम कह सकते हैं कि हमारे कर्मों का उद्देश्य या तो दूसरों को चिंतन के स्तर पर प्रभावित करना होता है या फिर जगत की भौतिक परिस्थितियों में परिवर्तन करना। भौतिक परिस्थितियों में परिवर्तन के लिए या तो पदार्थों को विस्थापित करते हैं या उन को स्वरूप विशेष में ढालते हैं । अत: कौशलों के विकास के संदर्भ में हमें यह सोचना पड़ेगा कि इन दोनों चीजों में कुशलता कैसे प्राप्त की जा सकती है।

पहले दूसरों को चिंतन के स्तर पर प्रभावित करने के बारे में सोंचे । ''चिंतन के स्तर पर प्रभावित करने'' को मैं यहां इसके विस्तृततम अर्थों में ले रहा हूं । किसी दूसरे व्यक्ति को किसी ऐसे विचार से सहमत करना जिससे वह पहले अंजान या असहमत था, चितन के स्तर पर प्रभावित करना है। पर इतना तो चिंतन के स्तर पर प्रभावित करने के सामान्य अर्थ में ही निहित है । यहां पर इसके अर्थ में दूसरे तक किसी के विचार को पहुंचाने को भी शामिल माना है। फिर चाहे वह सहमत हो या असहमत । अर्थात् स्पष्ट अभिव्यक्ति मात्र से ही चिंतन के स्तर पर प्रभावित होना मान लिया गया है क्योंकि यदि अभिव्यक्ति हुई है तो दूसरे को अभिव्यक्त विचारों के प्रति सचेत तो होना ही पड़ा है । अत: चिंतन के स्तर पर प्रभावित करने की कुशलता में एक तो स्पष्ट अभिव्यक्ति की कुशलता शामिल होगी तथा दूसरे अन्यों को अपने विचार से सहमत कर पाने की कुशलतायें । यहां ''सहमति'' से अर्थ ईमानदार बौद्धिक सहमति है । दबाव, लालच, डर आदि के द्वारा ''सहमति'' प्राप्त करने की

बात नहीं कर रहे । अब आगे यह हम पर निर्भर करता है कि हम इस बात की कितनी सूक्ष्मता तक जाना चाहते हैं। शायद यहां इतना काफी है कि हम पहले स्तर की क्षमताओं की एक काम चलाऊ सूची बना लें । ऐसी एक सूची निम्न प्रकार हो सकती है :

1. जिस विचार की अभिव्यक्ति करनी हो उसे स्पष्टता के साथ पकड़ पाना ।
2. दूसरे को जिस तरह से प्रभावित करना चाहते हैं, उसका स्पष्ट विचार बना पाना ।
3. दूसरे की भाषा का अंदाज लगा पाना तथा उस भाषा का अपने विचार की अभिव्यक्ति के लिए उपयोग कर पाना।
4. दूसरे के मूल्यों व चिंतन प्रणाली को समझ पाना व उनके परिप्रेक्ष्य में अपनी बात कह पाना।
5. अपने विचारों की स्पष्ट अभिव्यक्ति एवं उनको समझने के लिए आवश्यक अवधारणाओं को चिन्हित कर पाना।

ऐसी ही कुछ और क्षमतायें हो सकती हैं । अन्य चीजें विचार की सार्थकता, आकर्षण, व्यावहारिकता, स्वयं चरितार्थ करने आदि पर निर्भर करेंगी । साथ ही सहयोग एवं लोगों से रिश्ते बनाने की बातें भी महत्वपूर्ण होंगी । इन सब चीजों को देखते हुए यह स्पष्ट ही है कि इस क्षेत्र में कर्म की कुशलता तो लगभग पूरी तरह व्यक्ति की समझ, मूल्यों एवं व्यक्तित्व के सामान्य विकास पर ही निर्भर करेगी । और इस तरह यह फिर समझ के विकास के दायरे में चला जाता है । अत: कौशलों के विकास में इस पर कुछ विशेष करने की आवश्यकता नहीं है ।

जहां कौशलों के विकास का सर्वाधिक महत्व है वह क्षेत्र है - जगत् में भौतिक परिवर्तन करने वाले कौशलों का विकास । यहां हम कह सकते हैं कि कौशल का अर्थ है विचार को वस्तु या कर्म में परिणित कर पाने की क्षमता। किसी वस्तु के निर्माण में आवश्यक क्षमताओं को तीन वर्गों में बांट कर देख सकते हैं ।

1. वांछित वस्तु की स्पष्ट कल्पना कर पाना ।
2. वस्तु के निर्माण के लिए उपयुक्त पदार्थ का चुनाव ।
3. पदार्थ को मनचाहा रूप दे पाने की क्षमता ।

पहली दो क्षमतायें आकार-परक कल्पना एवं पदार्थों के गुण धर्मों की जानकारी से संबंधित हैं । तीसरी हाथों से काम करने से संबंधित है। कौशलों के विकास के लिए मूलत: इन क्षमताओं के विकास पर बल देना होगा। यह तो स्पष्ट है कि समझ का विकास स्वत: ही कौशलों के विकास की बहुत-सी शर्तें पूरी करता चलता है । यहां वस्तुओं-पदार्थों के साथ सीधे अनुभव, हाथों से काम करना एवं श्रम के प्रति हमारी भावना विशेष रूप से महत्वपूर्ण हो जाते हैं।

अभी तक हमने समझ एवं कौशलों पर विचार किया है । प्राथमिक शिक्षाक्रम का विस्तृत ढांचा तैयार करने से पहले हमें कुछ और चीजों पर विचार करना पड़ेगा । साथ ही समझ एवं कौशलों के विकास में हमने भाषा की बात कहीं नहीं की । यहां इस पर टिप्पणी आवश्यक है कि इस संपूर्ण वैचारिक ढांचे में हम भाषा को कहां रख रहे हैं ।

4. भाषा

संपूर्ण मानवीय समझ का आधार भाषा ही है । भाषा को समझ के स्वरूपों में नहीं मानने का कारण यह नहीं है कि वह कम महत्वपूर्ण है बल्कि ठीक इस से उल्टा है । समझ के किसी भी स्वरूप के विकास की पूर्व शर्त है भाषा । पर इससे यह नहीं समझना चाहिये कि मैं यहां भाषा को मात्र एक साधन के रूप में देख रहा हूं । कई बार भाषा को ज्ञान का वाहक, ज्ञान का साधन आदि कहा जाता है । यह कहना ठीक तो है पर एक खास दृष्टि से देखें तो भाषा के महत्व को कम भी करता है। साधन या वाहक कहने में लगता है कि असल चीज तो वह ज्ञान है जिसका भाषा वाहक मात्र है। वास्तव में बात इससे कहीं अधिक महत्वपूर्ण है । भाषा वाहक मात्र नहीं बल्कि आवश्यक शर्त है ज्ञान की । समझ के स्वरूपों का वर्गीकरण तो हमने अवधारणाओं की विशिष्टता, उस स्वरूप में अवधारणा संरचनाओं की विशिष्टता एवं सत्यापन विधियों की विशिष्टता के आधार पर किया है, पर सभी अवधारणाएं तो भाषा की हैं । भाषा में अपना तो कुछ भी सत्य या असत्य सिद्ध करने के लिए नहीं है । इसलिए यह समझ का एक स्वरूप विशेष तो नहीं हो सकती। पर यह उससे कहीं अधिक विस्तृत एवं केन्द्रीय महत्व की वस्तु है।

ज्ञान या समझ अनुभव का व्यवस्थित व संहिताबद्ध रूप है। अनुभव में व्यवस्था लाने एवं उसको संहिताबद्ध करने का काम भाषा के द्वारा ही संभव है । साथ ही भाषा का विकास अनुभव पर ही निर्भर करता है । अत: अनुभव के आधार में से दो प्रक्रियायें एक दूसरे की मदद करते हुए विकसित होती हैं : समझ के विकास की प्रक्रिया और भाषा के विकास की प्रक्रिया ।

समझ के विकास की प्रक्रिया एवं भाषा के विकास की प्रक्रिया एक दूसरे से अविच्छिन्न रूप से जुड़ी हुई हैं एवं उन्हें इसी तरह देखा जाना चाहिये । अत: प्राथमिक शिक्षाक्रम की विस्तृत रूपरेखा बनाने का काम हम भाषा पर विचार से ही आरंभ करेंगे। यहां बस इतना ही । ◆